देहली 10

भीतर आओ अगर तुम ख़ुद को पहचानो।

कई वर्षों तक मैंने माना कि कहानियाँ समझाने के लिए होती हैं।

किसी घटना को समझाना।

किसी जीवन को समझाना।

किसी चुनाव को समझाना।

किसी भूल को समझाना।

यह एक स्वाभाविक धारणा थी।

हर बार जब हम कोई किताब पढ़ते हैं, कोई कहानी सुनते हैं या कोई जीवनी देखते हैं, हम एक उत्तर पाने की आशा करते हैं।

एक शिक्षा।

एक निष्कर्ष।

एक व्यवस्थित अर्थ।

फिर मैंने कुछ अलग खोजा।

सबसे महत्वपूर्ण कहानियाँ समझाती नहीं।

वे पहचानती हैं।

वे तुम्हें नहीं बतातीं कि क्या सोचना है।

वे तुमसे नज़र उठवाकर कहलवाती हैं:

"मैं भी।"

यह एक छोटी बात है।

फिर भी यह सब कुछ बदल देती है।

क्योंकि, जिस क्षण हम किसी चीज़ में ख़ुद को पहचानते हैं, हम दर्शक होना बंद कर देते हैं।

हम भागीदार बन जाते हैं।

यह किताब, ये देहलियाँ, यह लंबी पार-यात्रा प्रशंसा जगाने के लिए नहीं लिखी गईं।

प्रशंसा नाज़ुक होती है।

वह कम टिकती है।

वह दूरी पर जीती है।

मैं कुछ और चाहता था।

मैं निकटता चाहता था।

निकटता तभी जन्म लेती है जब कोई मनुष्य किसी दूसरे की कहानी में ख़ुद का एक अंश पहचानता है।

देश मायने नहीं रखता।

भाषा मायने नहीं रखती।

धर्म मायने नहीं रखता।

पेशा मायने नहीं रखता।

जो मायने रखता है वह है पहचान।

अपने जीवन के दौरान मैंने कई सरहदें पार कीं।

भौगोलिक।

पेशेवर।

निजी।

और हर बार मैं उसी निष्कर्ष पर पहुँचता।

मनुष्य अपनी सोच से कहीं अधिक एक जैसे हैं।

शब्द बदलते हैं।

आदतें बदलती हैं।

परंपराएँ बदलती हैं।

पर प्रश्न वही रहते हैं।

डर।

प्रेम।

अनुपस्थिति।

आशा।

ज़िम्मेदारी।

हानि।

अर्थ की खोज।

इसीलिए एक जगह लिखी कहानी संसार के दूसरे छोर पर समझी जा सकती है।

इसलिए नहीं कि वह किसी संस्कृति को कहती है।

इसलिए कि वह एक मानवीय दशा को कहती है।

जब मैंने अपने अनुभव के अंशों को जोड़ना शुरू किया, मैंने किसी गाथा की कल्पना नहीं की थी।

मैंने किसी कथा-तंत्र की कल्पना नहीं की थी।

मैंने किसी मंज़िल की भी कल्पना नहीं की थी।

मैं बस यह समझने की कोशिश कर रहा था कि क्या बचा रह गया।

काम के बाद।

यात्राओं के बाद।

कठिन परीक्षाओं के बाद।

मिले हुए लोगों के बाद।

वर्षों के बाद।

उत्तर धीरे-धीरे आया।

जितना मैं सोचता था उससे कहीं कम बचा था।

और जितना मैं कल्पना करता था उससे कहीं अधिक।

बचे थे सिद्धांत।

रिश्ते।

सबक।

उपस्थितियाँ।

स्वीकार की गई ज़िम्मेदारियाँ।

निभाई गई निष्ठाएँ।

और सबसे बढ़कर कुछ ऐसा बचा था जिसे मैं परिभाषित नहीं कर पाता था।

एक तरह का धागा।

प्रतीत में दूर के अनुभवों के बीच एक अदृश्य जोड़।

वही धागा जिसने शायद तुम्हारे जीवन का भी साथ दिया।

क्योंकि हर अस्तित्व में एक गुप्त ताना-बाना होता है।

शुरू में हम उसे नहीं देखते।

हम जीने में बहुत व्यस्त होते हैं।

दौड़ने में।

प्रतिक्रिया करने में।

रचने में।

फिर, किसी मोड़ पर, समय हमें पर्याप्त दूरी देता है।

और आख़िरकार हम आकृति को देखने लगते हैं।

पूर्ण नहीं।

सीधी-सरल नहीं।

पर वास्तविक।

शायद यही कारण है कि हम कहानियाँ कहते हैं।

सिखाने के लिए नहीं।

पहचानने के लिए।

उसे पहचानना जो रहा।

जो बना हुआ है।

जो सौंपे जाने योग्य है।

अक्सर मुझसे पूछा जाता है कि संदेश क्या है।

सच यह है कि कोई एक ही नहीं है।

हर पाठक एक अलग दरवाज़े से भीतर आएगा।

कोई पिता में ख़ुद को पहचानेगा।

कोई पुत्र में।

कोई हानि में।

कोई पुनर्जन्म में।

कोई यात्रा में।

कोई बीमारी में।

कोई सहनशीलता में।

कोई प्रेम में।

कहानी वही है।

प्रवेश बदलता है।

और यह ठीक ही है।

क्योंकि कोई कथा पूरी तरह उसकी नहीं होती जो उसे लिखता है।

जिस क्षण वह पढ़ी जाती है, वह उसकी भी हो जाती है जो उसे पार करता है।

मैंने इस रूपांतरण का सम्मान करना सीखा।

उसे नियंत्रित न करना।

उसे न निर्देशित करना।

उसे घटित होने देना।

दरअसल, हर पाठक अपने सामने की किताब को फिर से लिखता है।

अपने अनुभव का उपयोग करते हुए।

अपने घावों का उपयोग करते हुए।

अपनी स्मृति का उपयोग करते हुए।

इसीलिए कोई अंतिम पाठ नहीं होता।

हज़ारों संभव पाठ होते हैं।

सभी वैध।

सभी सच्चे।

सभी मानवीय।

यहाँ तक पहुँचकर, इन सारी देहलियों के बाद, मुझे किसी को क़ायल करने की ज़रूरत महसूस नहीं होती।

मुझे कुछ साबित नहीं करना।

मुझे स्वीकृति नहीं खोजनी।

मुझे कोई स्मारक नहीं बनाना।

मुझे एक अधिक सरल संभावना ही काफ़ी है।

कि कोई, इन पन्नों को पढ़ते हुए, एक संपर्क-बिंदु पाए।

एक पहचान।

एक प्रतिध्वनि।

एक वाक्य।

एक अंश।

एक मौन।

कुछ ऐसा जो उसे सोचने पर मजबूर करे:

"मैं अकेला नहीं हूँ।"

शायद यही हर उस कथा का असली काम है जो कहे जाने योग्य है।

मनुष्यों के बीच की दूरी घटाना।

चाहे कुछ ही मिनटों के लिए।

चाहे कुछ ही पन्नों के लिए।

चाहे केवल एक देहली के लिए।

क्योंकि राह के अंत में, जब उपाधियाँ महत्व खो देती हैं, जब आँकड़े धूल बन जाते हैं और जब समय अपना काम करने लगता है, एक ही प्रश्न बचता है।

यह नहीं कि तुमने किसकी प्रशंसा की।

यह नहीं कि तुमने किसका अनुसरण किया।

यह नहीं कि तुमने किसका अनुकरण किया।

बल्कि यह कि तुमने किसे पहचाना।

और इसीलिए यह देहली मौजूद है।

निष्कर्ष के रूप में नहीं।

निमंत्रण के रूप में नहीं।

निर्देश के रूप में नहीं।

बल्कि संभावना के रूप में।

अगर इन पन्नों में तुम्हें कुछ अपना मिला, तो दरवाज़ा पहले से खुला है।

तुम्हें अनुमति नहीं माँगनी।

तुम्हें कुछ साबित नहीं करना।

तुम्हें बस उसे पार करना है।

भीतर आओ अगर तुम ख़ुद को पहचानो।